* ओ३म् *

महर्षिदयानन्दप्रतिपादितवैदिकदर्शनम्

काशी पण्डितसभाध्यक्षः

म. म. पण्डितराज डॉ० गोपाल शास्त्री दर्शनकेशरी

सम्पादिका

प्रज्ञा देवी

आचार्या पाणिनि कन्या महाविद्यालय

वाराणसी-५

पाणिनि कन्या महाविद्यालय वाराणसी के

दशम वार्षिकोत्सव पर

महर्षिदयानन्दप्रतिपादितवैदिकदर्शनम्

लेखक

काशी पण्डितसभाध्यक्ष राष्ट्रपति सम्मानित

म. म. डॉ० गोपाल शास्त्री दर्शनकेशरी

डी. ५६/३१ सिगरा, वाराणसी।

सम्पादिका एवं अनुवादिका

प्रज्ञा देवी

आचार्या पाणिनि कन्या महाविद्यालय

वाराणसी-५

सम्पादकीयम्

प्रस्तुत पुस्तिका का संस्कृत अंश श्री काशीपण्डित सनातन धर्म सभाध्यक्ष *डॉ० गोपाल शास्त्री जी दर्शनकेशरी* की *"सर्वदर्शन-समन्वयः"* पुस्तक जो कि "श्री लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृतविद्या-पीठम्" से प्रकाशित है से उद्धृत किया गया है।

नवतिवर्षीय जराजीर्ण महाविद्वान् मनीषी *श्री गोपालशास्त्री जी* का पिछले अक्तूबर मास में मुझे अचानक एक फोन प्राप्त हुआ जिसमें उन्होंने वेदवाणी पत्रिका में सद्यः प्रकाशित स्वामी करपात्री के उत्तर में लिखे गये मेरे एक लेख पर पाणिनि के 'छन्दसि' पद की विशेष व्याख्या को पढ़कर गद्‌गद मन से बधाई दी एवं साथ ही मुझे इस बात के लिये प्रेरित किया कि "मैं श्रीमद्दयानन्द प्रतिपादित वैदिक दर्शन पर कुछ विवरण लिखकर उन्हें प्रस्तुत करूँ" जिसे उस समय छप रही उनकी पुस्तक "सर्वदर्शन-समन्वयः" में जोड़ा जा सके। पूज्य शास्त्री जी की इस सदिच्छा को विदित कर मुझे अपार प्रसन्नता हुई, विद्यालयीय अन्यान्य कार्यों में अति व्यापृत होने के कारण इस विवरण को तैयार करने के लिए मैंने प्रतिभाशाली नवयुवक विद्वान् *पं० ज्वलन्त कुमार जी* शास्त्री एम०ए० को कहा। उन्होंने बड़ी प्रसन्नता से इस विवरण को महर्षि दयानन्द के सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम अष्टम एवं नवम समुल्लासों को आधार बनाकर तैयार किया, जिसे विमुग्ध भाव से पू० शास्त्री जी ने स्वीकार ही नहीं किया अपितु "ऋषि दयानन्द की सामाजिक मान्यतायें" एवं "वैदिक मान्यतायें" शीर्षक देकर—(१) स्त्रियों को वेद पढ़ने का सदैव अधिकार रहा है, और है। (२) वेद में कहीं भी अश्लीलांश एवं मांसभक्षण की बात नहीं। (३) वेद में अनित्य इतिहास या कथा कहानियाँ नहीं हैं। (४) ब्राह्मण ग्रन्थ वेद के व्याख्यान ग्रन्थ हैं, ईश्वरीय ज्ञान वेद नहीं। (५) ईश्वरीय ज्ञान वेद चार संहितायें ही हैं और उनका स्वतः प्रामाण्य है। (६) वैदिक यज्ञों में पशु-

हिंसा की बात नहीं है। (७) अष्टाध्यायी महाभाष्यादि आर्षग्रन्थों का ही अध्ययन-अध्यापन वेद में पारंगत होने के लिये करना चाहिये इत्यादि विषय और भी परिवर्द्धित किये। श्रद्धेय शास्त्री जी ने उस संक्षिप्त विवरण को नाना प्रमाणों से अलंकृत कर जहाँ उसके कलेवर सौन्दर्य को निखारा वहीं महर्षि दयानन्द के सम्बन्ध में स्वरचित कुछ श्लोकों को पुस्तक में रखकर अपनी उदार-मनीषा का भी परिच' दिया। पू० शास्त्री जी ने जिस प्रबलता से ऋषि दयानन्द प्रतिपादित सिद्धान्तों की अनेकों स्थलों पर वैदिक प्रमाणों से सुपुष्टि की है वह वस्तुतः महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय है।

'महर्षि दयानन्द प्रतिपादित वैदिक दर्शन' इतना उच्चकोटि का होते हुवे भी विभिन्न दर्शनकारों की शृंखला में आज तक यदि यथोचित स्थान न उपलब्ध कर सके तो इसका कारण उन समन्वयकारों की अनुदार दृष्टियाँ ही हो सकती हैं ऐसा मैं समझती हूँ। पू० पण्डित जी ने *'सर्वदर्शन-समन्वयः'* पुस्तक में *दयानन्ददर्शनम्* को समुचित स्थान देकर न केवल जिज्ञासु अध्येताओं को ही उत्तम सामग्री प्रदान की है अपितु इस उदात्त दृष्टिकोण के लिये समस्त आर्य-जगत् के बधाई एवं धन्यवाद के पात्र बने हैं। वेद, दर्शन एवं स्मृतियों के प्रमाणों से सुपुष्ट कर देने पर महर्षि दयानन्द प्रतिपादित दर्शन स्वतः ही अकाट्य एवं वरेण्य हो जाता है और इस सम्बन्ध में समस्त पक्षपात पूर्ण उक्तियाँ निरर्थक सिद्ध हो जाती हैं यह बात आपको इस लघु पुस्तिका में देखने को मिलेगी।

पाणिनि कन्या महाविद्यालय के इस दशम वार्षिकोत्सव के अवसर पर इस पुस्तिका का प्रकाशन दो मुख्य उद्देश्यों से किया जा रहा है—

प्रथम यह कि सत्यार्थ प्रकाश में उल्लिखित वैदिक सिद्धान्तों को आर्य जन भी जो कभी-कभी स्वाध्याय शील प्रवृत्ति के अभाव में पूर्णतया नहीं जान पाते उसे संक्षेप में भली भाँति समझ लें एवं अनेकानेक प्रमाणों को देखकर यह भी जान लें कि ऋषिवर दयानन्द ने जो कुछ भी कहा है, वह वेदानुकूल प्रमाणों पर ही आधारित है।

द्वितीय यह कि ऋषि दयानन्द प्रतिपादित सिद्धान्तों के विषय में निष्पक्ष विद्वानों के महत्त्वपूर्ण विचार सबके समक्ष आ जायें। इस दृष्टिकोण से मुझे विश्वास है कि यह लघु पुस्तिका संस्कृतानुरागी एवं समस्त आर्य जनों में उत्तम स्थान प्राप्त करेगी। संस्कृत में लिखे 'दयानन्द-वैदिक दर्शनम्" के रूप में ये उत्कृष्ट विचार विशेष व्यापकता को प्राप्त कर सकें इस हेतु इसका आर्य-भाषानुवाद भी मैंने कर दिया है। वार्षिकोत्सव पर पधारे हुवे प्रत्येक सज्जन इस श्रद्धा प्रसून को ग्रहण कर अपने मन मस्तिष्क में उसको उचित स्थान दें यही मेरी हार्दिक भावना है।

अन्त में मैं पूज्यपाद श्री *डॉ० गोपाल शास्त्री जी दर्शन केशरी* का अपने शब्दों में अत्यन्त आभार व्यक्त करती हूँ तथा अपने प्रियवर अनुज *डॉ० ज्वलन्त जी शास्त्री* को बहुत-बहुत साधुवाद देती हूँ। अपनी विद्यालयीय पुत्रियों *आयु० माधुरी शास्त्री* एवं *आयु० प्रियंवदा शास्त्री* को भी मैं मुद्रणपत्र संशोधनादि हेतु विशेष आशीः राशि से युक्त करती हूँ।

इस आभार क्रम में मैं श्री राय साहिब *चौ० प्रताप सिंह जी* करनाल की विशेषतया आभारी हूँ जिन्होंने इस पुस्तिका का प्रकाशन अपने न्यास की ओर से कराया है।

निवेदयित्री—
डॉ० प्रज्ञा देवी

४–५–८१
वैशाखी अमावस्या

महर्षि दयानन्द प्रतिपादित वैदिकदर्शनम्

के

प्रतिपाद्य विषय

त्रैतवाद, जीवात्मा का परिच्छिन्नवाद मुक्ति
से पुनरावर्त्तन, सभी वैदिक दर्शन
ईश्वरवादी हैं, षड्दर्शन
समन्वय-पाठ्य ग्रन्थों
का निर्देश

महर्षि दयानन्द की सामाजिक मान्यतायें

महर्षिदयानन्द-सरस्वती-प्रतिपादितं-वैदिक-दर्शनम्

महर्षिदयानन्द-सरस्वती-महोदया हि दार्शनिकान् परस्परं विरुद्ध-वादानुपहसन्तो विविधं विमर्शमुपस्थापयन्ति। तेषां कथनमस्ति यद् दर्शनानां रहस्यज्ञानाय मूलसूत्रैः सह तेषामार्षं भाष्यमेव परिशील-नीयम्। तदाधारं तैर्यो दार्शनिकः सिद्धान्तः समाविश्चक्रे तस्याधः समुल्लेखो विधीयतेऽतिसंक्षेपेण।

१. त्रैतवादः। २. जीवात्मपरिच्छिन्नवादः। ३. मुक्तेः पुनरावर्तनम् ४. वैदिक-दर्शनानि सर्वाण्येव सेश्वराणि। ५. सर्वेषां च तेषां सम-तात्पर्यं न तु परस्पर-विरोधे। इति।

त्रैतवादः

त्रैतवादो हि डिण्डिमघोषं घुष्यते। अखिलब्रह्माण्डस्य मूलमुपादान-कारणं प्रधानापरपर्यायं प्रकृतितत्त्वं तच्च सत्त्वरजस्तमसां साम्यमुच्यते। इत्येकं तत्त्वम्। द्वितीयं तत्त्वं तु भोक्तृरूपं जीवात्मतत्त्वम्। तृतीयं तत्त्वं तु तयोः प्रकृतिजीवात्मनोर्नियामकमीश्वरतत्त्वमिति। त्रयाणा-मनाद्यनन्तस्थितिरितीत्थं त्रैतवादः स्वभाव-सिद्ध एवास्ति यथार्थसत्ता-वान्। व्याप्तौ ज्ञाने आनन्दे सत्तायां चानन्ततामृतत्त्वं हि ब्रह्म ईश्वरः प्रजापतिः इत्यादिनाम्नाभिधीयते। सत्तायां याथार्थ्यम् व्याप्तावपरि-मितं ज्ञानानन्दकर्मशून्यं हि तत्त्वं प्रकृतिरित्युक्तम्। सत्तायां याथार्थ्यम् व्याप्तौ ज्ञाने आनन्दे कर्मणि च स्वल्पत्वमणुत्वं च बिभर्ति तद्धि तत्त्वम् जीवः पुरुष आत्मेत्युच्यते। ब्रह्म हि आनन्दानन्त्यमनाद्यं ज्ञानानन्तत्वं सामर्थ्यानन्त्यमित्यादिविशिष्टगुणशालित्वात् परमपुरुषः परमात्मा परमेश्वर इत्याद्यनन्तनामभिर्व्यपदिश्यते। इमानि त्रीणि तत्त्वानि स्वभावसिद्धानि शाश्वतानि सदैवेत्थमेव पृथक् तिष्ठन्ति। अतिष्ठन्। स्थास्यन्ति चेति सिद्धं तत्त्वत्रयम् शाश्वतम्।

ब्रह्मणाऽल्पज्ञस्य जीवस्य सृष्टिर्न क्रियते । यथा ब्रह्म स्वभावत एव सर्वज्ञं तथैव जीवोऽपि स्वभावत एवाल्पज्ञः, प्रकृतिश्च स्वभावत एवाज्ञेति त्रयाणामपि पार्थक्यसिद्धिः शाश्वतिकीति वेदज्ञविदुषां केषामपि विमतिरत्र नास्ति ।

विश्वस्मिन् जडचेतनयोः शाश्वती स्थितिः पृथक् सत्ता च शाश्वतिकी स्वतन्त्रेति प्रत्यक्षसिद्धम् । न तयोः किमपि परस्परमेकम् अन्यस्मिन् परिणमते परिवर्तते वा जडं जडमेवेति चेतनश्चेतन एवेति नैव स स्वचैतन्यं जहाति । नापि जडं स्वजाड्यं विजहाति ।

तत्र चेतनवर्गे एकः परमात्मा स्वतन्त्रः सर्वज्ञः सर्वकर्ता तद्भिन्नोऽल्पज्ञो भोगेऽस्वतन्त्र एताभ्यां भिन्ना जडाऽज्ञा प्रकृतिः जडवर्गाणामुपादानकारणम् तद्धि भोज्यमुच्यते । जीवोऽणुपरिमाणो भोक्ता परमेश्वरो विभुरभोक्तेति यथार्थभेद एतेषाम् ।

भोक्ता जीवोऽपि देहेन्द्रियादिविशिष्टश्चेतनो भवति । उक्तमन्यत्रापि **'आत्मेन्द्रियमनायुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः** (कठ० १।३।४) ईश्वरस्याभोक्तृत्वमेव सूचयति । स क्वापि कथमपि देहेन्द्रियभाक् नैव भवतीति ।

अतश्चेश्वरस्यावतारो न सम्भवति नापि तत्प्रतिमास्तीति साकारमूर्तिपूजनादिकं सर्वमवैदिकं कर्मेति सिद्धमेवास्ति ।

परमात्मनः प्रेरणया प्रकृत्युपादानकं विश्वं भोग्यं जीवात्मनो भोक्तुः कृते परिणमते । **संहतपरार्थत्वात्** (सां० सू० १।१०५) इदं हि विविधं वैशिष्ट्यं परमेश्वरस्याभोक्तृत्वम् जीवात्मनो भोक्तृत्वं प्रकृतेर्जडाया भोग्यत्वमेव त्रयाणां पार्थक्ये मूलम् । एषामेव त्रयाणां वेदेषु चतुर्ष्वपि पार्थक्येन विस्तृतं वर्णनमुपलभ्यते । ऋग्वेदस्यैको मन्त्र इह निर्दिश्यते—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

(ऋ० १।१६४।२०)

अस्मिन् मन्त्रे भोक्तुर्जीवस्याभोक्तुः परमेश्वरस्य भोग्यायाश्च प्रकृतेः फलयुक्तस्य वृक्षस्य रूपकेण वर्णनं दृश्यते। एतदनुरूपमेव श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयते—

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।

(श्वे० १।१२)

छान्दसोऽदन्तो ब्रह्मशब्दः। भोक्ता भोग्यं प्रेरितेति त्रीण्येवानादितत्त्वानि सर्ववेदेषु गीयन्ते।

षड्दर्शनानि वैदिक्यश्च चतस्रः संहिता उपनिषदश्चैकादश एतेषामेव त्रयाणां तत्त्वानां प्रतिपादनं बहुधा कुर्वन्तीति वेदविदुषामतिरोहितम्।

जीवात्मनः परिच्छिन्नवादः

जीवात्मा न विभुरस्ति नापि मध्यमपरिमाणः किन्तु स हि अणुरित्येव वेदेषु भिन्न-भिन्नवैदिकशास्त्रेषूपलभ्यते। योगदर्शनस्य व्यासभाष्ये महर्षेः कपिलस्य प्रशिष्य आचार्यः पञ्चशिखो वक्ति—

'तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत् सम्प्रजानीते।'

अयं हि योगिनोऽनुभवः समाधावेवमात्मानं परमाणुं पश्यतीति तादृशमेव ब्रूते न्यायदर्शनस्य वात्स्यायनभाष्येऽपि—

"अस्त्येकः सर्वविषयः प्रतिदेहं स्वज्ञान-प्रबन्धं स्मृति-प्रबन्धं च प्रतिसंधत्ते इति। यस्य देहान्तरेषु वृत्तेरभावान्न प्रतिसन्धानं भवतीति।"

(वात्स्या० भा० ३।१।१५)

इत्यनेन सूच्यते यस्मिन्देहे जीवात्मा तिष्ठति तत्र परिच्छिन्नस्तिष्ठति।

उपनिषत्स्वपि अणुत्वेनैव जीवात्मायं निर्दिश्यते। तथाहि मुण्डकोपनिषदि श्रूयते—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः । (मु० ३।१।९)

श्वेताश्वतरोपनिषद्यपि एष भावः स्फुटं विवृतोऽस्ति—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागः जीवो स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते ॥ (श्वे० ५।९)

मुक्तेः पुनरावृत्तिवादः

यद्यपि दर्शनेषु—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः (न्या० १।१।२२)

अथ त्रिविध-दुःखात्यन्त-निवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः (सां०सू० १।१)

इत्यादि-सूत्रैः सर्वदुःखानां हि अत्यन्तनिवृत्तिरेव मुक्तिरभिहिताऽस्ति । तथैव जनेषु धारणाऽप्यस्ति यन्मुक्तेर्न कोऽपि परावर्तत इति । परन्तु मम दृष्टौ तत्रात्यन्तशब्दोऽत्यधिकार्थे विद्यते न तु अनन्तार्थे यतोहि अल्पज्ञो अल्पशक्तिर्जीवोऽनन्तकालावधि ब्रह्मानन्दं भोक्तुं कथमपि समर्थो न स्यात् । ममास्य विचारस्य पोषिका मुण्डकोपनिषद्विद्यते । सा हि स्पष्टं मुक्तेः परावर्तनं ब्रूते तथाहि—

वेदान्तविज्ञान-सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्ध-सत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे ॥
(मु० उ० ३।२।६)

अत्र मुक्तिस्थितिकालस्य परान्त इति संज्ञास्ति । ततो मुक्तिस्थितिकालस्य समाप्तिरेव परान्तकालशब्देन सूच्यते । परान्तकाले मुक्तिस्थितिकालसमाप्तौ परामृतान्मुक्तेः सर्वे मुच्यन्ति निवृत्ता भवन्ति । अत्र परस्मैपदं छान्दसम् । मुच्यन्ते ततोऽध आयान्तीत्यर्थः । अत्र परामृता इति पाठस्तु प्रामादिकः । यतो हि नारायणोपनिषदि (१२।३) द्वादशाध्याये तृतीयमन्त्रे पञ्चम्यन्तः **परामृतात्** इत्येव पाठस्तथा सूत-

संहितायाः सायण-माधव-कृत-व्याख्यायां मुण्डकोपनिषद एवोद्धृतोऽयं श्लोकोऽस्ति। तत्रापि परामृतादिति पञ्चम्यन्तः पाठ एवोपलभ्यते। अतश्च पञ्चम्यन्तपाठस्य प्राबल्यात् परामृतादिति पाठः प्रामाणिकः, प्रथमान्तपाठः (परामृताः) प्रामादिक इति सुस्पष्टम्। मीमांसका अपि तदीयं मतं समर्थयन्ति। निःश्रेयसमेव तेषां मुक्तिस्तेऽपि ततः परावर्तनं मन्यन्ते। तथाहि गीताशास्त्रे नवमेऽध्याये एकविंशं पद्यम्—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।

(गीता ९।२१)

इत्यनेन सूच्यते यथा मीमांसकानां निःश्रेयसं लब्ध्वाऽपि ततः परावृत्तिं लभते जीवात्मा स्वकृतकर्मणः क्षयात् तथैव यस्य सिद्धान्ते जीवात्मनः सततं शाश्वतमल्पज्ञत्वं तस्य तु अल्पज्ञस्य मुक्तिरपि सावधिरेव स्याद्। यतो हि अल्पज्ञतया अल्पसामर्थ्याच्च न हि स शाश्वतं ब्रह्मानन्दं भोक्तुं समर्थ इति साधूक्तं **महर्षिदयानन्द-सरस्वतीमहाभागेन** जीवात्मानो मुक्तेः परावर्तन्त इति। **तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः** १।१।२२ इत्यादि-न्यायादिदर्शनसूत्रेषु अत्यन्तशब्दोऽत्यधिकार्थ-वाचक एव न तु अनन्तार्थ इति तथ्यम्।

महर्षिकपिलोऽपि मुक्तेः पुनरावृत्तिं सूचयति प्रथमाध्याये—(१५९) ऊनषष्ट्युत्तरशततमे सूत्रे तत्र दृशेलिमम् पाठकैरिति संक्षेपः।

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः सां० सू० १।१५९

यथा हि जगच्चक्रमनादिकालादविच्छिन्नं प्रचलति तथैवाग्रेऽपि चलिष्यत्येव नह्यस्य कदापि शाश्वतिको विच्छेदः। इत्यनेन सूच्यते यत्तेनाऽपि मुक्तेः पुनरावृत्तिरभिहितैवेति शम्।

सर्वाण्यपि वैदिकदर्शनानि सेश्वराणि

सर्वेष्वपि वैदिकदर्शनेषु ईश्वरसिद्धिर्विहिताऽस्ति। क्वापि नहि तस्य खण्डनम्। व्याख्यातॄणां प्रमादात्सांख्ये वैशेषिके मीमांसायां च

साम्प्रतिकानां भ्रमो विद्यते यत्तत्र नास्ति परमेश्वरचर्चेति। तत्र ते **'ईश्वरासिद्धेः'** (१।९२) इति सांख्यसूत्रं निदर्शयन्ति। किन्तु तस्य सूत्रस्यार्थज्ञाने तेषां भ्रान्तिः। यतो हि तत्सूत्रम् ईश्वरस्योपादान-कारणतां निषेधति। तथाहि ईश्वरस्य असिद्धेः जगदुपादानकारणता-ऽसिद्धेः, ईश्वरो नहि जगत उपादानकारणं स हि निमित्तकारणमेवेति सूत्रार्थः। अस्यैवार्थस्य वैशद्यम् **'तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्'** (सां० सू० १।९६) **'स हि सर्ववित् सर्वकर्ता'** (सां० सू० ३।५६) **'ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा'** (सां०सू० ३।५७) पुनश्च पञ्चमाध्याये द्वितीय-सूत्राद् द्वादशसूत्रावधि ईश्वरसिद्धिविषयो दृश्यते।

वेदस्य कर्मकाण्डात्मकभागस्य पोषिके भारद्वाज-जैमिनिमीमांसे संमिलिते भूत्वा पूर्वमीमांसेत्युच्यते। मध्यमीमांसा दैवीमीमांसा च डिण्डिमघोषमीश्वरं स्वीकुरुतः। तत्र केवलं जैमिनीयाख्य-पूर्वमीमांसा-यान्तु कर्मणः प्राधान्यप्रतिपादने प्रयोजनमिति प्रसङ्ग एव नोपतिष्ठते ईश्वरसिद्धयसिद्धये इति कथं कथयामो मीमांसका नेश्वरं मन्यन्ते इति। अग्रेतना भ्रान्ता विद्वांसो 'मुखमस्तीति वक्तव्यम् दशहस्ता हरीतकी' इतिवत् यत् किञ्चिज्जल्पन्तु नाम कः शृणोति खपुष्पपुराणम्।

वैशेषिक-दर्शने (१०।२।९) दशमाध्याये द्वितीयपादस्य नवमसूत्रे ईश्वरसत्तायां वैदिकं प्रमाणं प्रत्तं विद्यते। तथैव वहुत्र विषयेऽस्मिन् वैशेषिक-सूत्राणि द्रष्टव्यानि यथा प्रथमाध्याये प्रथमपादे तृतीयसूत्रम्। तथा द्वितीयाध्याये प्रथमपादेऽष्टादशं सूत्रं द्रष्टव्यम्। एवमेव वैशेषिक-दर्शनस्य प्रशस्तपाद-भाष्यस्य सर्गोत्पत्तिप्रसङ्गे जगत्कर्तृत्वरूपेणेश्वर-स्योल्लेखोऽस्ति। इत्येवं सर्वत्रैव दर्शनेषु ईश्वरसिद्धिः प्रतिष्ठितास्ति। तत्र वैशेषिकास्तु **"प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्क-रसिकाः"** सिद्धान्त-मुक्तावली-प्रभृतिग्रन्थेषु क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटादिवदित्यादिना सुदृढाद्यनुमानेनेश्वरं साधयन्ति। उदय-नाचार्य्यस्य ईश्वरसिद्धौ न्यायकुसुमाञ्जलिर्नामग्रन्थः प्रसिद्धोऽस्ति।

तथाहि—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात्-संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥

(न्या० कु० ५।१)

अस्यार्थः—कार्यम् आयोजनं कर्म, धृतिः आदिर्यस्य स तस्मात् । पद्यतेऽनेनेति पदम् = व्यवहारः तस्मात् । प्रत्ययः = प्रमाणम् तस्मात् । श्रुतेः = वेदात् । वाक्यात् = वेदवाक्यात् । संख्याविशेषात् = संख्याजन्य-परिमाणविशेषात् संख्याजन्यं द्व्यणुकपरिमाणमित्यर्थः । तस्मात् विश्ववित् ईश्वरः स च अव्ययः नित्य एव साध्योऽनुमेयः । तत्रानुमान-प्रकारोऽपि विस्तृतं विवृतोऽस्ति । मनागिहापि निर्दिश्यते—

१----क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत् । २---पर-माणुद्वय-संयोग-जनकं कर्म चेतन-प्रयत्नपूर्वकं कर्मत्वात् अस्मदादि-शरीर-कर्मवत् । ३---ब्रह्माण्डादि प्रयत्नवदधिष्ठितम् धृतेः गगने पक्षिधृततृणवत् । ४---ब्रह्माण्डादि प्रयत्नवद्विनाश्यम् विनाशित्वाद् घटवत् । ५---वेदज्ञानं कारणगुण-जन्यं प्रमात्वात् प्रत्यक्षादिप्रमावत् ६---वेदः पौरुषेयः वेदत्वात् आयुर्वेदवत् । ७--वेद-वाक्यानि पौरुषेयाणि वाक्यत्वात् अस्मदादि-वाक्यवत् । ८--द्व्यणुकपरिमाणं संख्याजन्यं परिमाणाजन्यत्वे सति जन्यपरिमाणत्वात् कपाल-द्वया-रब्ध-घट-परिमाणापेक्षया कपालत्रयारब्ध-घट-परिमाणवत् ।

इत्येवमष्टाभिरनुमानैस्तत्रेश्वरो नित्योऽनुमितो विद्यते । तत्र कणे-हत्य दृशेलिमः सः । बौद्धानां राज्यशासनकाले परेशं खण्डयत्सु तेषु ईश्वरस्तु उदयनाचार्यस्यैव प्रभावाद् भारते प्रतिष्ठितोऽभूदिति महती प्रसिद्धिरार्येषु ।

तथा च उदयनेन कुसुमाञ्जलिग्रन्थान्ते प्रोक्तमपि—

इत्येवं श्रुतिनीति-संप्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते
येषां नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशयाः ।
किन्तु प्रस्तुतविप्रतीप-विधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तकाः
काले कारुणिक ! त्वयैव कृपया ते तारणीया नराः ॥१७॥

अस्माकं तु निसर्ग-सुन्दर ! चिराच्चेतो निमग्नं त्वयी-
त्यद्धानन्दनिधौ तथापि तरलं नाद्यापि सन्तृप्यते ।
तन्नाथ ! त्वरितं विधेहि करुणां येन त्वदेकाग्रतां
याते चेतसि नाप्नुयाम शतशो याम्याः पुनर्यातनाः ॥१८॥

किं बहुना 'आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इत्यत्र आत्मा उदयनार्यदृष्टौ ईश्वर एव गृहीतः । तस्यैव हि दर्शने हेतवः श्रवणं मननं निदिध्यासनमिति । सुतरामुक्तं तेन न्यायकुसुमाञ्जलौ ग्रन्थप्रणयनं नाम मननं मया क्रियते आत्मनः परमेश्वरस्य न्या० प्रथमस्तवके तृतीयं पद्यम्—

न्यायचर्चेयमीशस्य मनन-व्यपदेशभाक् ।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता ॥ (न्या०कु० १।३)

स्मृतिश्चास्ति—

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥ (न्या०कु० १।३)

षड्दर्शनसमन्वयः

षड्दर्शन-समन्वयमपि महर्षिः स्वदिशा साधु समादिशति तथाहि—

बहुधा जनेषु प्रवादोऽस्ति यद् भारतीय-वैदिकानि षड्दर्शनानि परस्परं विरुन्धन्तीतीयं धारणा निर्मूलैवास्ति । नास्ति काऽपि

भित्तिरस्या धारणायाः, यतो हि सूत्रकारेषु न दृश्यते क्वापि तादृशी प्रवृत्तिः। ते हि केवलं स्वीयम् **ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा** (यो०द० १।४८) इति पातञ्जलसूत्रनिर्देशात् ऋतम्भरया प्रज्ञयानुभूतं मन्तव्यमेव निर्दिशन्ति सूत्रसङ्घैः, न ते परस्परं विरोधलेशमपि प्रदर्शयन्ति।

दर्शनेषु परस्पर-विरोधं तु व्याख्यातार एवोत्थापयन्ति तद्भित्तिं च स्व-व्याख्यया द्रढयन्ति। दर्शनसूत्रकारा महर्षयो हि दर्शनसमन्वयं यथा विदधति तद्धि अद्भुतं चमत्कारं जनयति। पश्यन्तु पाठका महर्षिभिः कृतं दर्शनसमन्वयं तत्प्रकारत एव तथाहि—"मीमांसासिद्धान्ते जगतः सर्वमपि कार्यं कर्मसाध्यमेवोच्यते। तथैव तत्सूत्रम् **'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्'**" इति।

न्याये कारणत्रैविध्यनिरूपणम्। सांख्ये चतुर्विंशतिप्रकृतितत्त्वानां विवेचनम्। योगे **'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** (१।३) इति आत्मस्वरूपनिरीक्षणाध्यवसायः। वेदान्ते च 'तस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः…' इत्यादिना सृष्टितत्त्वनिरूपणम्। सर्वोपनिषद्वाक्यानां पुष्पमालावद् सूत्रपुष्पैरेकत्र ग्रथनमेव। षड्भिः कर्मभिः षण्णामङ्गानामवयवानां पूरणेन जगन्निर्माण-प्रदर्शनमेव सूत्रकाराणां प्रधानं कर्म दृश्यते। नहि तत्र क्वापि परस्परं विरोध-चर्चा दृश्यते।

एकस्यैव वस्तुनोऽन्यथाऽन्यथानिरूपणेन विरोधोपस्थानं भवति। अत्र तु सर्वेऽपि महर्षयः स्वानुभूत्या सर्वेषां जगत्साधनानां समन्वयं परस्परं कुर्वन्त एव स्वमन्तव्यं प्रकाशयन्ति—

यथाहि न्याय-वैशेषिकौ सृष्टेः स्थूलतत्त्वविवेचनं कुरुतः। सांख्याचार्या हि सूक्ष्मातिसूक्ष्मतत्त्वानां विवेचनं कुर्वन्ति। पतञ्जलिः प्रकृति-पुरुषयोर्जडचेतनयोः पार्थक्यं विवृणुते। उभे अपि समानतन्त्रे सांख्ययोगदर्शने परस्परं विषयभेदनिरूपणाद्विभिन्ने। तथैव न्याय-वैशेषिकदर्शने अपि वैशेषिकं स्थूलतत्त्वानां क्षित्यप्तेजोमरुद्व्योमादीनां नैयायिकं दर्शनं प्रमाणादिषोडशपदार्थतत्त्वनिरूपणाद्विशेषतो हि

उद्देशलक्षण-परीक्षामात्रप्रदर्शनात् परस्परं भिद्येते। तथैव पूर्वमीमांसा जैमिनीया कर्मविपाकनिरूपणेन समाज-संघटनकर्मविधानादुत्तरमीमांसा च बादरायणीयं वेदान्तदर्शनं चतुर्वेदप्रतिपाद्य-ब्रह्मतत्त्वनिर्वचनादेव परस्परं भिद्येते।

इत्थं षण्णामपि दर्शनानामेवं समन्वय-विधानम्। (श्रीमहर्षिज्ञाना-नन्दयोगिराजमते सप्तानामिति वाच्यम्) एतेन प्रतीयते यत् सर्वेऽपि महर्षयः स्वस्व-दृष्टिभिरेकमेव जगच्चक्रमीश्वरकर्त्तृकं निरूपयितुं प्रवृत्ताः। न तत्रोच्चावचादिविचारणा प्रसरति। इयं हि गर्हिता धारणा यद् न्यायवैशेषिकदर्शने हीनकोटिके दर्शने। उच्चतमकोटिकं तु वेदान्त-दर्शनमेवेत्यादि। सर्वाण्येव दर्शनानि स्वानुभूति-सिद्धपदार्थ-निरूप-काणि। यथाहि लोके विविधानि जीवन-साधनानि तथैव शास्त्राण्यपि विविध-जनरुचिवैचित्र्यात् भिन्नानि। उक्तमपि पुष्पदन्तयक्षेण महिम्ना-स्तोत्रसारे—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव। इति।

एवं स्थितौ न किमपि न्यूनं नापि तदितरद् दर्शनं ततोऽधिकं सांख्य-पूर्वमीमांसादर्शने नेश्वरं मन्वाते। योगदर्शनं पुरुषविशेषमेवेश्वरं वक्ति इत्यादि अज्ञजनवन्मिथ्या कल्पना सर्वथापाहरणीया। बहुधा बहुभिः स्वस्वदिशा समन्वयितान्येव दर्शनानि। मयापि पूर्वमुक्तमेव—हन्तुं बौद्धोऽन्वधावत्तदनु कथमपि स्वात्मलाभः कणादादित्यादि।

पाठ्यग्रन्थनिर्देशः

महर्षिदयानन्दसरस्वतीमहोदयेनार्षग्रन्थाध्ययनाय कियतां ग्रन्थानां नामान्यपि निर्दिष्टानि तत्तु सत्यार्थप्रकाशपुस्तके तृतीये समुल्लासे द्रष्टव्यम्। इहापि कतिपयानां नामनिर्देशः क्रियते। तथाहि—पाणिने-रष्टाध्यायी पतञ्जलेर्महाभाष्यमिति ग्रन्थद्वयमेवार्षव्याकरणेऽध्येयम्।

ततो हि षण्णां दर्शनानां सूत्राणि तेषामार्षभाष्याणि चाध्येयानि। वेदानामध्ययनं सर्वैरेव पुरुषैः स्त्रीभिर्वा सर्वथा श्रद्धया विश्वासेन विधेयम्। तथैव वेदाज्ञा विद्यते—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च।
(यजु० २६।२)

'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।'
(अथर्व० ११।५।१८)

श्रौत्रसूत्रादिषु **'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्'** इत्यादिलिङ्गनिर्देशात् स्फुटं स्त्रीणां वेदाध्ययनं प्रतीयते। पुराकाले गार्गी मैत्रेयी आत्रेयी प्रभृतयो बहवः स्त्रियो वेदविदुष्यो बभूवुः। उत्तररामचरितनाटके भवभूतिरपि स्त्रीणां वेदाध्ययनं वक्ति—

अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति।
तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्त-विद्यां वाल्मीकि-पार्श्वादिह पर्य्यटामि॥

बौद्धकालीनायाःविज्जकायाः गर्वोक्तिः प्रसिद्धैव—**"नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकां मामजानता। वृथैव दण्डिना प्रोक्ता सर्वशुक्ला सरस्वती"** इति स्त्रीणां वेदाध्ययने बहूनि प्रमाणानि सन्तीत्यलम्।

महर्षिदयानन्दसरस्वती-सिद्धान्ते चतुर्णां वेदानां संहिताभागस्यैव वेदसंज्ञा, स्वतः प्रामाण्यं च। ईश्वरप्रेरणया ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः शाखाविभागेन ११२७सप्तविंशत्युत्तरैकादशशतानि शाखा विभजन्ति। ततो ब्राह्मणग्रन्था आरण्यकानि उपनिषदश्च ऋषिप्रोक्तानि परतः प्रामाण्यं च तेषां स मनुते। तेषु ब्राह्मणग्रन्थानां पारिभाषिकी वेदसंज्ञा तथैवारण्यकानि उपनिषदश्च वेदानुकूलतयैव प्रामाण्यमश्नुवन्ति। वेदे

सर्वेऽपि यौगिकाः शब्दाः सन्ति । न तत्र रूढिशब्दो नापि कोऽपीतिहासस्तत्र तन्नये विद्यते ।

नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम् ।
यन्न पदार्थ-विशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् ।
(म० भा० ३।३।१)

इत्यादि प्रमाणतो निरुक्तदिशैव स वेदार्थं तनोति । सर्वेषामेव मन्त्राणामाध्यात्मिकमाधिदैविकमाधिभौतिकं त्रिविधमर्थं मनुते सः । वेदे महीधरादीनामश्लीलार्थं तथेतिहासादिकं नाङ्गीकरोति । स हि वैदिकयज्ञेषु पशुहिंसां न मनुते । **'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'** इति हि प्रमाण-वाक्यं तस्य ।

स हि वेदे एकस्येश्वरस्यैव पूजामर्चां मनुते, न विविधानां नापि मूर्त्तिपूजां समर्थयति । नाप्यवतारवादं नैव जन्मना वर्णव्यवस्थां स्वीकरोति । मृतकश्राद्धादिबाह्याडम्बरस्य अनौचित्यं प्रतिपादयन् "पञ्चैतान् यो महायज्ञान् न हापयति शक्तितः" इति मनूक्तान् एव पञ्च महायज्ञान् समर्थयति तथाहि—

अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ।। (मनु० ३।७०)

इत्यादि सर्वं मनूक्तं विधिं ते समर्थयन्ति । किं बहुना—

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयतां ।
तेनेशस्य विधीयतामपचितिर्वर्णाश्रमः सेव्यताम् ।।
राष्ट्रं चाद्रियतां प्रसू-जनकयोराज्ञा समाधीयतां ।
सम्मानेन सुशिक्षया च सततं कन्याकुलं सिच्यताम् ।।

वेदः सर्वविद्यानामाश्रयः। वेदस्य पठनं पाठनं श्रवणं श्रावणं च आर्याणां परमो धर्म इति महर्षिस्वामिदयानन्दसरस्वतीवर्यस्य स्वरचितमेकं पद्यमिति तद्विलिख्य विरम्यते—

ब्रह्मानन्तमनादि विश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतम्।
विद्या यस्य सनातनी निगमभृद्वैधर्म्यविध्वंसिनी॥
वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा।
तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते॥१॥

एकमस्माकमपि स्रग्धराछन्दसा पद्यम् स्वामि-सम्बन्धे—

स्वामी ब्रह्मर्षिरेव प्रहित इह भुवि ध्वस्त-सन्मार्ग-लोकान्।
उद्धर्तुं वेदवाक्यैः सुविवृति-विततैर्वेदवित् त्रैतवादी॥
सर्वान् पुंसः स्त्रियो वा निरुपधि विमले वेदमार्गे प्रवेष्टुं।
ब्रूते सत्यार्थ-शास्त्रं व्यवहृतिनिपुणोऽद्वैतवादो न हेयः॥१॥

इति श्रीमहर्षिस्वामिदयानन्दसरस्वती-विषये डिण्डिमघोषः।

वैदिकदर्शनं समाप्तम्। शुभं भूयात्॥

—: ० :—

महर्षिदयानन्दसरस्वतीप्रतिपादित वैदिक दर्शन

महर्षि दयानन्द सरस्वती इस युग के प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने "न्याय वैशेषिकादि छहो दर्शनों के सिद्धान्तों में परस्पर कोई विरोध नहीं" इस बात की बलपूर्वक स्थापना की। इससे पूर्व छहो दर्शनों के सम्बन्ध में सभी आचार्यों की यही मान्यता थी कि "इन छहो दर्शनों के दार्शनिक सिद्धान्तों में परस्पर विरोध है।" उन्होंने यह बताया कि ऋषियों में परस्पर विरोध नहीं होता, ये एक दूसरे के पूरक हैं, विरोधी नहीं। दर्शनों के रहस्य-ज्ञान के लिये मूल दर्शन के सूत्रों के साथ उनके वात्स्यायनादि द्वारा विरचित आर्ष भाष्यों का ही अध्ययन करना चाहिये यह भी महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश में स्पष्ट किया है। संक्षेप में ऋषि दयानन्द द्वारा उल्लिखित दार्शनिक सिद्धान्त निम्न प्रकार हैं—

(१) त्रैतवाद (२) जीवात्मा का परिच्छिन्नवाद (३) मुक्ति से पुनरावर्त्तन (४) सभी वैदिक दर्शन ईश्वरवादी हैं (५) सभी दर्शनों का तात्पर्य परस्पर विरोध में नहीं, समन्वय में है।

(१) त्रैतवाद

(१) त्रैतवाद में सबसे प्रथम तत्त्व है 'प्रकृति' जो कि स्थूल जगत् का मूल उपादान कारण है तथा जिसमें सत्त्व, रज और तम इनकी साम्यावस्था विद्यमान है।

(२) द्वितीय तत्त्व है प्रकृति का भोक्ता = जीवात्मा।

(३) तृतीय तत्त्व ईश्वर है जो कि प्रकृति एवं जीवात्मा दोनों का नियामक है।

इन तीनों तत्त्वों की सत्ता अनादि एवं अनन्त है। सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, आनन्दघन एवं अजर, अमर स्वरूप वाला परमात्मा ही ब्रह्म

ईश्वर या प्रजापति नाम से कहा जाता है। अनन्त गुण कर्म स्वभाव वाला होने से ब्रह्म के अनन्त नाम हैं। ज्ञान आनन्द एवं कर्म से शून्य तथा व्याप्ति में अपरिमित तत्त्व ही प्रकृति है तथा अल्पज्ञ एकदेशित्व एवं अल्प शक्तिमत्ता स्वरूप वाला जीवात्मा कहलाता है। ये तीनों तत्त्व स्वभावसिद्ध हैं। सदैव से इसी प्रकार रहे हैं, हैं, और रहेंगे अर्थात् इनकी शाश्वतिक स्थिति है।

अल्पज्ञ जीव को ब्रह्म = परमात्मा नहीं बनाता। वह भी ब्रह्म के समान नित्य है। जिस प्रकार ब्रह्म स्वभाव से सर्वज्ञ है उसी प्रकार जीव स्वभाव से अल्पज्ञ है तथा प्रकृति स्वभाव से अज्ञ = जड़ है। इस प्रकार तीनों पृथक्-पृथक् गुण वाली नित्य सत्तायें हैं, इस बात में सभी वेदज्ञ विद्वान् एक मत हैं। इस प्रकार जड़ प्रकृति जड़ ही रहेगी, अल्पज्ञ जीव अल्पज्ञ ही रहेगा तथा सर्वज्ञ परमेश्वर सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् ही रहेगा। तीनों में से कोई भी अपने गुणों को छोड़ कर दूसरे का गुण धारण नहीं कर सकते। चेतन जीव कभी भी जड़ नहीं बन सकता और जड़ प्रकृति कभी भी चेतन नहीं हो सकती। तीनों स्वतन्त्र गुण वाले पृथक्-पृथक् सत्ता को धारण करते हुवे अनादि काल से हैं। जीव अणु परिमाण वाला भोक्ता है, परमेश्वर विभु = सर्वत्र व्यापक एवं अभोक्ता है, जड़ प्रकृति भोग्य है।

जीव देहेन्द्रियादि विशिष्ट शरीर को धारण कर भोक्ता कहलाता है, जैसा कि कठोपनिषद् में कहा है— **"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः** (कठ० १।३।४) परमेश्वर शरीर धारण कभी नहीं करता अतः वह सदैव अभोक्ता है। इस प्रकार ईश्वर का न कदापि अवतार सम्भव है, न ही उसकी कोई मूर्ति। परमेश्वर की मूर्त्ति के अभाव में परमेश्वर की प्रतिमा मानकर मूर्त्ति पूजनादिक सब कार्य अवैदिक हैं यह वेदाभिमत सिद्धान्त हुआ जिसे दयानन्द सरस्वती ने माना है। परमात्मा के द्वारा सूक्ष्म नित्य प्रकृति से स्थूल जगत् का

निर्माण होता है जो जीवात्मा के भोग का साधन है। जैसा कि सांख्य दर्शन में कहा है—

"संहतपरार्थत्वात्" (सां० १।१०५) अर्थात् प्रकृति का संघात (स्थूलत्व रूप) परार्थ = अन्य के लिये है जीवात्मा के भोग के लिये है। इस प्रकार अचेतन भोग्य प्रकृति से विलक्षण भोक्ता = चेतन आत्मा का अस्तित्व भी सिद्ध हो जाता है। इन्हीं तीन तत्त्वों की पृथक्-पृथक् सत्ता बताने के लिये ऋग्वेद का निम्न मन्त्र है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

(ऋ० १।१६४।२०)

इस मन्त्र में भोक्ता जीव और अभोक्ता परमेश्वर का दो पक्षियों के रूप में वर्णन आया है तथा फलयुक्त वृक्ष के रूप में भोग्य प्रकृति का वर्णन है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी तीनों शाश्वतिक पृथक्-पृथक् सत्ताओं के सम्बन्ध में कहा है—

"भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म[१] मेतत्"

(श्वे० १।१२)

अर्थात् भोक्ता, भोग्य एवं प्रेरिता (ब्रह्म) इन्हीं तीन अनादि तत्त्वों का सब वेदों में बहुशः कथन आया है। छहो दर्शन, चारों वेद तथा वैदिक मान्यता प्राप्त ग्यारह[२] उपनिषदें सभी में इन तीन तत्त्वों को पृथक्-पृथक् उपर्युक्त रीति से ही बताया गया है।

(२) जीवात्मा का परिच्छिन्नवाद

जीवात्मा अणु परिमाणवाला है न तो विभु = सर्वत्र व्यापक है, न मध्यम परिमाण वाला है। यह बात वेद एवं सभी विभिन्न वैदिक

---

१. यहाँ छान्दस अकारान्त ब्रह्म शब्द है ऐसा जानना चाहिये ॥

२. ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वतर, बृहदारण्यक और छान्दोग्य ॥

शास्त्रों में कही गई है। योग दर्शन के व्यास भाष्य में कपिल के प्रशिष्य आचार्य पञ्चशिख कहते हैं—

"तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्संप्रजानीते"

अर्थात् मैंने उस जीवात्मा को अणु परिमाण वाला प्रत्यक्ष किया है। पञ्चशिख आचार्य का यह प्रत्यक्ष, योगज अनुभव के रूप में है जो समाधि अवस्था में प्राप्त होता है। न्याय दर्शन के वात्स्यायन भाष्य[२] में भी जीवात्मा को अणु परिमाणी ही माना गया है। उपनिषदों में भी जीवात्मा को अणु परिमाणी ही बताया गया है। जैसा कि मुण्डकोपनिषद् में आया है—

"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः" (मु० ३।१।९)

इसी प्रकार श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी जीवात्मा के अणुत्ववाद की परिपुष्टि प्राप्त होती है। तद्यथा—

"बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च
भागः जीवो स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते" (श्वे० ५।९)

(३) मुक्ति से पुनरावर्तन

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः (न्याय० १।१।२२) **अथ त्रिविध-दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः** (सां० १।१) इत्यादि दर्शन के सूत्रों में सब दुःखों से अत्यन्त निवृत्ति का नाम मुक्ति बताया गया है। इस अत्यन्त निवृत्ति शब्द का लोगों द्वारा यही अर्थ माना गया कि अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् सदैव के लिये दुःखों से छूट जाना रूपी

---

१. योगदर्शन व्यासभाष्य, समाधिपाद, सूत्र ३६ पर ॥

२. अस्त्येकः सर्वविषयः प्रतिदेहं स्वज्ञानप्रबन्धं स्मृतिप्रबन्धं च प्रतिसंधत्ते इति। यस्य देहान्तरेषु वृत्तेरभावान्न प्रतिसन्धानं भवतीति (वात्स्या० भा० ३।१।१५) ॥

निवृत्ति का नाम मुक्ति है। इस अर्थ के अनुसार मुक्ति हो जाने पर जीव की पुनरावृत्ति (पुनः शरीर धारण) कदापि नहीं हो सकती, जो वैदिक मान्यता के विरुद्ध है। यहाँ अत्यन्त शब्द का महर्षि दयानन्द ने अत्यधिक अर्थ करते हुवे इस वैदिक[1] सिद्धान्त की पुनः सुपुष्टि की कि मोक्ष के निश्चित काल को बिता कर जीवात्मा को पुनः शरीर धारण करने के लिये बद्ध होना पड़ता है। अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् अत्यधिक निवृत्ति मोक्ष है न कि अनन्त निवृत्ति। अल्पज्ञ एवं अल्प शक्ति वाले जीव द्वारा सीमित पुरुषार्थ ही सम्भव है। अतः उसका फल भी सावधिक ही होगा अनन्त नहीं। मुण्डकोपनिषद् में भी इस विचार की सुपुष्टि स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार की गई है—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे॥

(मु० ३।२।६)

अर्थात् वे मुक्त जीव मुक्ति में प्राप्त होके ब्रह्म के आनन्द को तब तक भोग के पुनः महाकल्प के पश्चात् मुक्ति सुख को छोड़ के संसार में आते हैं। परान्तकाले अर्थात् निश्चित अवधि वाले मुक्ति के काल की समाप्ति पर परामृतात्[2] मुक्ति से सभी परिमुच्यन्ति

---

१. *कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।*
को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥
अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम।
स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥
(ऋ० १।२४।१-२)

२. यहाँ "परामृताः" यह पाठ जो कहीं-कहीं प्राप्त होता है वह प्रामादिक ही जानना चाहिये क्योंकि निर्णय सागर प्रेस में छपे उपनिषदों के गुटके के मुण्डकोपनिषद् में "परामृतात्" ही पाठ है। नारायण-उपनिषद् १२।३ में "परामृतात्" ही पाठ है। सूत संहिता की तात्पर्य-टीका में माधव ने परामृतात् पाठ ही माना है।

(देखो—सत्यार्थ प्रकाश रा० क० ट्रस्ट मुद्रित शताब्दी सं० पृ० १८४)

लौटते हैं। यहाँ परिमुच्यन्ति में छान्दस परस्मैपद जानना चाहिये। मुक्ति से पुनरावर्तन की चर्चा गीता के नवम अध्याय में भी आई है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥

(गीता ९।२१)

इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि मीमांसा शास्त्र के अनुसार भी निःश्रेयस सुख को प्राप्त कर लेने पर निश्चित अवधि तक परम आनन्द का भोग करने के अनन्तर मुक्ति के लिये किये गये पुरुषार्थ की समाप्ति के पश्चात् जीव की मुक्ति से पुनरावृत्ति होती है। क्योंकि अल्प सामर्थ्य वाले जीव का ऐसा पुरुषार्थ कदापि नहीं हो सकता जो वह अनन्तकालीन आनन्द को प्राप्त कर सके। इस प्रकार अत्यन्त शब्द को अधिकार्थ में समझना चाहिये न कि अनन्तार्थ में। महर्षि कपिल भी मुक्ति से पुनरावृत्ति का ही समर्थन करते हैं—

"इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः" (सां० १।१५९) यह संसार अनादि काल से जैसा चलता आया है भविष्य में भी वैसा चलता रहेगा। अब तक के समान इसका अत्यन्त उच्छेद सम्भव नहीं।

(४) सभी वैदिक दर्शन ईश्वरवादी हैं

सभी वैदिक दर्शनों में ईश्वर सिद्धि की स्थापना की गई है। कोई दर्शन ऐसा नहीं है जिसमें ईश्वर का खण्डन किया गया हो परन्तु दर्शन के व्याख्याताओं को यह अत्यन्त भ्रम हो गया कि सांख्य वैशेषिक एवं मीमांसा दर्शन में परमेश्वर की उपासना का खण्डन है। भ्रान्तिग्रस्त ऐसे व्याख्याता अपनी बात की सुपुष्टि में सांख्य दर्शन का **"ईश्वरासिद्धेः"** (सां० १।९२) सूत्र उद्धृत करते हैं किन्तु उनके इस कथन में उनका सूत्रार्थ का अज्ञान ही कारण है क्योंकि प्रकृत सूत्र में यह नहीं कहा गया कि "ईश्वरस्य असिद्धेः" ईश्वर की

सिद्धि नहीं है अपितु यह बताया गया है कि जगत् के उपादान कारण के रूप में ईश्वर की असिद्धि है अर्थात् ईश्वर जगत् का उपादान कारण नहीं अपितु निमित्त कारण है। जगत् का उपादान कारण तो प्रकृति ही है। इसी सूत्र के आगे **"तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्"** (सां० १।९६) तथा **"स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता"** (सां०३।५६) **"ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा"** (सां० ३।५७) इत्यादि सूत्र सांख्य दर्शन में कहे हैं जिनमें स्पष्ट ही ईश्वरसिद्धि की गई है। पुनः कपिल मुनि को अनीश्वरवादी कहकर जो नास्तिक बताता है मानो वही नास्तिक है।

अब रही मीमांसा शास्त्र की बात उसमें जैमिनिमुनि कृत पूर्वमीमांसा में प्रधान रूप से कर्म का प्रतिपादन किया गया है अतः यहाँ ईश्वर की सिद्धि-असिद्धि का कोई प्रसङ्ग ही नहीं आता तो इस बात से यह कैसे तात्पर्य निकला कि मीमांसा दर्शन ईश्वर को स्वीकार नहीं करता। मध्यमीमांसा एवं दैवीमीमांसा[1] में तो बड़े उच्च घोष के साथ ईश्वर की सिद्धि की गई है। इस प्रकार आगे के अज्ञान-ग्रस्त दार्शनिकों द्वारा खपुष्पपुराण[2] के समान यह बात उड़ा दी गई कि मीमांसा दर्शन ईश्वर को स्वीकार नहीं करता जो यथार्थ से विरुद्ध होने के कारण व्यर्थ जल्पन सदृश है।

वैशेषिक दर्शन में भी स्पष्ट अनेक स्थान में ईश्वर की सत्ता का प्रतिपादन किया गया है। तद्यथा—(१) **अस्मद् बुद्धिभ्यो**

---

१. 'दैवीमीमांसा" पुस्तक श्री भारत धर्म महामण्डल से प्रकाशित है। इसके सम्बन्ध में विशेष मूल पुस्तक सर्वदर्शन-समन्वय के पृ० ४३ में देखें ॥

२. खपुष्प अर्थात् असम्भव गप्पें। इस प्रकार सभी असम्भव गप्पों का सन्दर्भ स्थल खपुष्प पुराण में जान लेना चाहिये ॥

लिङ्गमृषेः[1] (२) तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्[2] (३) संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानाम् लिङ्गम्[3] । इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन के प्रशस्त-पाद भाष्य में सर्गोत्पत्ति के प्रसंग में जगत् कर्त्ता के रूप में ईश्वर का उल्लेख है। इस प्रकार सभी दर्शनों में ईश्वर की सिद्धि है। वैशेषिक, न्याय दर्शन का तो सिद्धान्त ही है कि प्रत्यक्ष से देखे हुवे पदार्थ को भी अनुमान से सिद्ध किया[4] जाये। इस प्रकार ईश्वर का स्थूल प्रत्यक्ष न होने पर भी अनुमान से सिद्ध करने में कोई असंगति नहीं। सिद्धान्तमुक्तावली इत्यादि ग्रन्थों में जब अनुमान प्रमाण की सिद्धि करते हुवे उदाहरण दिया जाता है कि **क्षित्यंकुरादिकं कर्त्तृजन्यं कार्यत्वात् घटादिवत्** अर्थात् पृथिवी के अंकुरादि सब कार्य किसी कर्त्ता द्वारा पैदा किये गये हैं घटादि के समान। बिना कर्त्ता के कोई कार्य नहीं होता अतः अंकुर का कर्त्ता भी मानना होगा और वह ईश्वर के सिवाय अन्य कोई नहीं हो सकता। इस प्रकार इतने सुदृढ़ अनुमान वाक्य से ईश्वर की सिद्धि बड़ी दृढ़ता से हो ही रही है।

ईश्वर की सिद्धि में उदयनाचार्य कृत न्यायकुसुमाञ्जलि ग्रन्थ अत्यन्त विख्यात है। उसमें कहा है—

"कार्यायोजनधृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः" (न्या. कु. ५।१)

अर्थात् कार्य, आयोजन, धृति=धारण नाश, पद=व्यवहार, प्रत्यय=प्रामाण्य, श्रुति, वाक्य तथा संख्या विशेष इन आठ हेतुओं से नित्य, सर्वज्ञ, विश्ववित्, अव्यय परमेश्वर सिद्ध[5] होता है। मेरे

---

१. वै. द. १०।२।६॥ २. वै. द. १।१।३॥ ३. वै. द. २।१।१८॥

४. प्रत्यक्षपरिकलितमप्यर्थमनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः॥

५. इन आठ हेतुओं के आधार पर अनुमान प्रकार जैसे बनता है वह पाठक संस्कृत भाग में ही देख लें॥

देश में बौद्धों का जब प्राबल्य हुआ तो उनके द्वारा वेद और ईश्वर का खण्डन किये जाने पर आर्य उदयनाचार्य ने **न्यायकुसुमाञ्जलि** जैसा गौरवपूर्ण ग्रन्थ लिखकर पुनः भारत में आस्तिकवाद की प्रतिष्ठापना की। उदयनाचार्य ने न्यायकुसुमाञ्जलि ग्रन्थ के अन्त में नास्तिकों के सम्बन्ध में बड़े ही मर्मस्पर्शी कुछ श्लोक[1] लिखे हैं जिनका तात्पर्य निम्न प्रकार से है—

(१) "इस प्रकार श्रुति और न्याय अनुमानादि के साहित्य रूप प्रचुर जल से धोये गये (शंका आदि मल को युक्ति तथा अनुमानादि द्वारा प्रभूत जलों से धोकर शुद्ध किये हुवे) जिन नास्तिकों के हृदय में हे भगवन्! आप प्रतिष्ठित नहीं होते हो अर्थात् जिनको आपके प्रति श्रद्धा और विश्वास नहीं होता है वे निश्चय ही लोहे अथवा कठिन पाषाण शिला के समान वज्र हृदय वाले हैं किन्तु ईश्वर के विषय में प्रतिकूल परायण होने पर भी आपत्ति काल में आपका अत्यन्त ध्यान करने वाले उन पुरुषों को हे करुणामय भगवन्! आप तारें अर्थात् शंकारूप कलङ्क से रहित करें।

(२) हे निसर्ग सुन्दर! हमारा ग्रन्थकार का चित्त तो बहुत समय से आप में ही निमग्न है, यह ठीक है फिर भी यह चञ्चल चित्त अभी तृप्त नहीं हुआ है। इसलिये हे नाथ! यथासम्भव शीघ्र ऐसी कृपा करो जिससे यह चित्त सर्वथा तुम में लीन हो जाये और फिर बार-बार यम की यातना (जन्म-मरण) हमें न सहना पड़े।"

अधिक क्या कहें **"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः"** इत्यादि सूक्तियों में भी तो आत्मा शब्द से ईश्वर ही लिया गया है। उसी का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करने को कहा है। न्यायकुसुमाञ्जलि के प्रथम स्तबक के तृतीय पद्य में **'न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक्'**

---

१. संस्कृत के मूल श्लोक संस्कृत भाग में पाठक देखें। ईश्वर के सम्बन्ध में बड़े ही मार्मिक ये उदनाचार्य के श्लोक हैं॥

जो कहा है वहाँ मनन किसका ? परमेश्वर का, यही अर्थ है। इसके अतिरिक्त आगम अर्थात् श्रुति से श्रवण, अनुमान अर्थात् आगमाविरोधी युक्ति तथा अनुमानादि द्वारा मनन और योगशास्त्र प्रदर्शित मार्ग से निदिध्यासन करने से तीन प्रकार से ज्ञान को परिमार्जित करके उत्तम योग समाधिजन्य परमात्मसाक्षात्कार को मनुष्य प्राप्त करता है, यह स्मृति का वचन[1] भी उदयनाचार्य ने उद्धृत किया है।

(५) षड्दर्शन समन्वय

महर्षि दयानन्द ने छहो दर्शनों का समन्वय भी बड़े सुन्दर ढंग से अपने ग्रन्थों में किया है। लोगों में प्रायः यह भ्रान्त धारणा है कि भारतीय वैदिक षड्दर्शनों में परस्पर विरोध है। वस्तुतः यह धारणा निर्मूल एवं निराधार है क्योंकि सूत्रकारों में परस्पर एक दूसरे के द्वारा कही गई वैदिक मान्यताओं को ही काटने की प्रवृत्ति कहीं भी नहीं देखी जाती। ऋषि मुनि तो केवल अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा (यो. १।४८) स्वानुभूत वेदानुकूल मन्तव्यों का सूत्रों द्वारा निर्देश करते हैं इसमें विरोध का लेश मात्र भी नहीं।

दर्शनों में परस्पर विरोध की बात तो विभिन्न दार्शनिक व्याख्याताओं की अपनी ही घड़ी हुई बात है। महर्षि दयानन्द ने जिस प्रकार इन दर्शनों के सिद्धान्तों में समन्वय उपस्थित किया है वह बहुत ही सुन्दर और चमत्कारिक है। पाठक उसका अवलोकन उन्हीं के शब्दों में करें—

"जैसा एक विद्या में अनेक विद्या के अवयवों का एक दूसरे से भिन्न प्रतिपादन होता है वैसे ही सृष्टि विद्या के भिन्न-भिन्न छह अवयवों का छह शास्त्रों में प्रतिपादन करने से इनमें कुछ भी विरोध

---

१. मूल श्लोक सस्कृत भाग में द्रष्टव्य है। अर्थ मात्र का यहाँ निर्देश किया गया है ॥

नहीं। जैसे घड़े के बनाने में कर्म, समय, मट्टी, विचार संयोग वियोगादि का पुरुषार्थ, प्रकृति के गुण और कुम्भकार (निमित्त) कारण है, वैसे ही सृष्टि का जो कर्म कारण है उसकी व्याख्या मीमांसा में, समय की व्याख्या वैशेषिक में, उपादान कारण की व्याख्या न्याय में, पुरुषार्थ की व्याख्या योग में, तत्त्वों के अनुक्रम से परिगणन की व्याख्या सांख्य में और निमित्त कारण जो परमेश्वर है उसकी व्याख्या वेदान्त शास्त्र में है। इससे कुछ भी विरोध नहीं।"

इस महर्षि के उद्धरण से स्पष्ट है कि सभी ऋषि महर्षियों ने अपनी-अपनी दृष्टि से एक ही जगत् चक्र के विषय में भिन्न-भिन्न बात को मुख्य बनाकर निरूपण किया है, विरोध कुछ भी नहीं। न ही इनमें कोई बड़ा या छोटा दर्शन है। यह बड़ी निन्दनीय धारणा अर्वाचीन विद्वानों में आ गई कि न्याय, वैशेषिक दर्शन हीन कोटि के दर्शन हैं और वेदान्त दर्शन उच्चतम कोटि का दर्शन है। जिस प्रकार से संसार में जीवन के साधन अनेक प्रकार के हैं उसी प्रकार शास्त्र भी भिन्न-भिन्न हैं जिनको अपनी अपनी रुचि के अनुसार लोग पढ़ते पढ़ाते हैं, जैसा कि पुष्पदन्तयक्ष ने महिमास्तोत्रसार में कहा है—

रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषाम् ।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

अर्थात् मनुष्यों की रुचियों के भेद होने से दर्शनों में भेद निरूपण है। लक्ष्य सबका एक है जैसे नदियाँ भिन्न मार्गों से समुद्र में ही पहुंचती हैं। इस प्रकार न कोई न्यून है न कोई उच्च। न ही परस्पर विरोध या दर्शनों में ईश्वर की असिद्धि है। दर्शनों के विषय में ऐसी व्यर्थ की कल्पना अज्ञ जन ही किया करते हैं जो सर्वथा त्याज्य है।

पाठ्यग्रन्थों का निर्देश

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने आर्ष ग्रन्थों के अध्ययन के लिये तत्तत् ग्रन्थों का निर्देश भी सत्यार्थप्रकाश में 'अथ पठनपाठनविधिः'

इस शीर्षक से किया है। यहाँ भी उनके द्वारा निर्दिष्ट कतिपय ग्रन्थों का नाम निर्देश किया जा रहा है—

[१] आर्ष व्याकरण के रूप में पाणिनि की अष्टाध्यायी एवं महर्षि पतञ्जलि का महाभाष्य इन दो ग्रन्थों का ही अध्ययन प्राचीन पद्धति के अनुसार करना चाहिये।

[२] तदनन्तर छहो दर्शन एवं उनके ऋषिकृत[१] भाष्यों को पढ़ना चाहिये।

महर्षि दयानन्द की सामाजिक मान्यतायें

वेदाध्ययन करने का सबको पूर्ण अधिकार है चाहे वे पुरुष हों चाहे स्त्री। जैसी कि वेदाज्ञा है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः···यजु० २६।२

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् अथर्व० ११।५।१८

इन मन्त्रों में स्पष्ट कहा है कि वेदरूपी कल्याणी वाणी को पढ़ने का अधिकार जन-जन को है तथा विदुषी कन्या विद्वान् पति को प्राप्त करे आदि। श्रौतादिकों में भी **'इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्'** ये जो वाक्य आते हैं उनसे पता चलता है कि स्त्रियों को वेदाध्ययन का अधिकार है। पुराकाल में गार्गी, मैत्रेयी, आत्रेयी आदि बहुत सी स्त्रियाँ वेद की विदुषी हुई थीं। उत्तररामचरित नाटक में भी

---

१. इस विषय में देखें सत्यार्थ प्रकाश—"पूर्वमीमांसा पर व्यासमुनि कृत व्याख्या, वैशेषिक पर गौतम मुनि कृत न्यायसूत्र पर वात्स्यायन मुनि कृत भाष्य, पतञ्जलि मुनि कृत योगदर्शन पर व्यासमुनि कृत भाष्य, कपिलमुनिकृत सांख्यसूत्र पर भागुरिमुनि कृत भाष्य, व्यासमुनि कृत वेदान्त सूत्र पर वात्स्यायन मुनि कृत भाष्य अथवा बौधायन मुनि कृत भाष्य।"

—सत्यार्थ प्रकाश ३ समुल्लास

भवभूति ने एक प्रसंग में लिखा है कि वन देवता के द्वारा आत्रेयी के तपोवन में आने का कारण पूछने पर आत्रेयी कहती हैं कि इस स्थान में उद्गीथ अर्थात् ब्रह्म को जानने वाले अगस्त्य आदि बहुत से ऋषि रहते हैं उनसे वेदान्त विद्या पढ़ने के लिये वाल्मीकि ऋषि के पास से आ रही हूं[१]। इससे पता चलता है कि नाटककार भवभूति के समय तक भी नारियों में वेदविद्या प्रचलित थी। वे ब्रह्मविद्या जैसी गूढविद्या का भी अध्ययन करती थीं। इसी प्रकार बौद्धों के काल में उत्पन्न विज्जका ने दण्डी की **'सर्वशुक्ला वै सरस्वती'** इस उक्ति को वृथा बताते हुवे कहा था[२] कि दण्डी ने नील कमल के पत्तों के समान श्याम वर्ण वाली मुझ विज्जका को न जानते हुवे ही सरस्वती को सर्वशुक्ला बताया है अर्थात् वह अपने आपको सरस्वती पण्डिता मानती है। इससे पता चलता है कि उसने वेदादि शास्त्रों का अध्ययन किया था। इस प्रकार नारियाँ पुराकाल में वेद पढ़ती थीं इसलिये उन्हें वेद पढ़ने का पूर्ण अधिकार है।

महर्षि की वैदिक मान्यतायें

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने चार संहिताओं को ही ईश्वरीय ज्ञान के रूप में वेद माना है और उन्हीं चार संहिताओं का स्वतः प्रामाण्य स्वीकार किया है। ऋषि लोग मन्त्रद्रष्टा थे कर्त्ता नहीं। इस प्रकार वेद [चारों संहितायें] अपौरुषेय हुवे। वेद के शाखा ग्रन्थों की महाभारत काल तक ११२७ संख्या थी। विभिन्न ऋषियों द्वारा प्रोक्त ये वेद की शाखायें वेदार्थ को सरल करने हेतु थीं, जिनमें पर्यायवाची आदि शब्दान्तर प्रस्तुत करके मूल मन्त्रों के रहस्य समझाये

---

१. अस्मिन्नगस्त्यप्रमुखाः प्रदेशे भूयांस उद्गीथविदो वसन्ति।
तेभ्योऽधिगन्तुं निगमान्तविद्यां वाल्मीकिपार्श्वादिह पर्यटामि॥

२. नीलोत्पलदलश्यामां विज्जकां मामजानता।
वृथैव दण्डिना प्रोक्ता सर्वशुक्ला सरस्वती॥

गये इस प्रकार ये पौरुषेय हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषदें ये सभी परतः प्रमाण हैं अर्थात् वेदानुकूल होने पर ही प्रमाण कोटि में आ सकते हैं। **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'** यह वाक्य तो कृष्ण-यजुर्वेदीय श्रौत सूत्रकारों द्वारा विरचित है जो उनकी अपनी शाखाओं में ब्राह्मणों का भी वेदत्व मानकर व्यवहार किया जावे इसके लिये पारिभाषिक संज्ञा के रूप में है। यह सार्वत्रिक नियम नहीं अतः इससे ब्राह्मण ग्रन्थों का वेदत्व कदापि सिद्ध नहीं होता[1]।

वेद में सभी शब्द यौगिकप्रकृति प्रत्यय से व्युत्पन्न हैं न कोई रूढि शब्द वेद में है, न अनित्य इतिहास कथा कहानियाँ। महाभाष्य-कार के **नाम च धातुजमाह निरुक्ते**...(३।३।१) इस वचनानुसार महर्षि वेद में सभी शब्दों की व्युत्पत्तियाँ मानते हैं।

सभी मन्त्रों के आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तीन प्रकार के अर्थ हो सकते हैं यह ऋषि दयानन्द का अभिमत है। वेद में महीधरादि भाष्यकारों द्वारा जो मन्त्रों का अश्लील अर्थ किया गया है वह मिथ्या अर्थ है सत्य नहीं। वेद में कहीं भी अश्लीलता एवं कदाचार की बातें नहीं हैं। इसी प्रकार वैदिक यज्ञों में कहीं भी पशुहिंसा नहीं है क्योंकि **'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'** ऐसा शास्त्रों में कहा है।

ऋषि दयानन्द वेद में एक परमेश्वर की ही पूजा अर्चना स्वीकार करते हैं विविध देवताओं की पूजा या मूर्त्तिपूजा नहीं स्वीकार करते। न ही वे अवतारवाद मानते हैं। वे जन्म से वर्ण व्यवस्था को भी स्वीकार नहीं करते, मृतक श्राद्धादि के नाम पर प्रचलित बाह्याडम्बरों का अनौचित्य प्रतिपादित करते हुवे वे—**पञ्चैतान्यो महायज्ञान्**[2]

---

१. विस्तार के लिये देखें "मीमांसक लेखावली" रा. क. ट्र. प्रकाशित पृ. १३९-१७८ ॥

२. ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ।

न हापयति शक्तितः इत्यादि मनु प्रोक्त श्लोकों[१] में जो पञ्चमहायज्ञ बताये गये हैं उनका ही समर्थन करते हैं। वेद सब विद्याओं के केन्द्र हैं, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है यह महर्षि दयानन्द का अभिमत है। वे स्वरचित ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका पुस्तक के प्रारम्भ में लिखते हैं—

ब्रह्मानन्तमनादि विश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतम् ।
विद्या यस्य सनातनी निगमभृद्वैधर्म्यविध्वंसिनी ।।
वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा ।
तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते ।।

अर्थात् मैं दयानन्द सरस्वती जो ब्रह्म अनन्त आदि विशेषणों से युक्त है जिसकी वेदविद्या सनातन है एवं नाना प्रकार के विधर्मों को ध्वस्त करने वाली है उसको अत्यन्त प्रेम भक्ति से मैं नमस्कार करता हूँ। संसार में मनुष्यों को सौभाग्य प्रदान करने वाली विमल वेद की वाणी का विस्तार करते हुवे मैं दयानन्द सरस्वती वेदभाष्य प्रारम्भ करता हूँ।

ऋषि दयानन्द प्रोक्त वैदिक सिद्धान्त संक्षेप से मेरे बनाये इस श्लोक में देखें—

वेदो नित्यमधीयतां तदुदितं कर्म स्वनुष्ठीयताम् ।
तेनेशस्य विधीयतामपचितिर्वर्णाश्रमः सेव्यताम् ।
राष्ट्रं चाद्रियतां प्रसू-जनकयोराज्ञा समाधीयताम् ।
सम्मानेन सुशिक्षया च सततं कन्याकुलं सिच्यताम् ।।

---

१. अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथि पूजनम् (मनु० ३।७०)

भावार्थः—सभी सज्जनों को नित्य वेदाध्ययन करना चाहिये और वेदोक्त कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिये। एक परमेश्वर की पूजा करनी चाहिये और कर्मानुसार वर्ण व्यवस्था को मानना चाहिये। देश हित के कार्य करते हुवे परस्पर पिता पुत्र एवं राजा प्रजा को प्रीति एवं आदर करना चाहिये और कन्याओं को प्रेम से वेद विद्या की सुशिक्षा देकर समाज में नारी जाति का सम्मान बढ़ाना चाहिये। इसी प्रकार स्रग्धरा छन्द में एक पद्य मैं स्वामी दयानन्द सरस्वती के सम्बन्ध में लिखता हूँ—

स्वामी ब्रह्मर्षिरेव प्रहित इह भुवि ध्वस्त-सन्मार्ग लोकान्।
उद्धर्त्तुं वेदवाक्यैः सुविवृतिविततैर्वेदवित् त्रैतवादी।
सर्वान् पुंसः स्त्रियो वा निरुपधि विमले वेदभागे प्रवेष्टुम्।
ब्रूते सत्यार्थ-शास्त्रं व्यवहृतिनिपुणोऽद्वैतवादो न हेयः॥

भावार्थः—ब्रह्मर्षि स्वामी दयानन्द ने ही इस भुवन में विनष्ट हुवे सन्मार्ग को पुनः प्रतिष्ठापित कर लोगों को सत्य पथ पर लगाया। वेद का आधार लेकर ही वेदवेत्ता त्रैतवादी महर्षि ने लोगों के उद्धार का रास्ता बताया। सत्यशास्त्र के वेत्ता महर्षि ने बताया कि बिना किसी हिचक या सोच विचार के सभी पुरुषों एवं स्त्रियों को वेदाध्ययन में प्रवेश करने का अधिकार है इस प्रकार अद्वैतवाद = एक परमेश्वर की ही उपासना करनी चाहिये[1]।

---

१. यहाँ अद्वैत शब्द का व्यवहार ब्रह्म सापेक्षी है। जीव एवं प्रकृति सापेक्षी नहीं है क्योंकि त्रैतवादी कहकर तीन की सत्ता तो पहिले ही स्वीकार की जा चुकी है। न द्वैत = अद्वैत अर्थात् एक ही ब्रह्म दूसरा एवं तीसरा नहीं॥

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः ॥